नवम् सर्ग

सूत्रधार

श्री कृष्ण

(सुमेरु छन्द)

बड़ा विस्मय मुझे दुर्बुद्धि पर है।
समझता राष्ट्र निज को आज नर है।
नृपति अब व्यष्टि[1] में ही मानता है।
विलय होती निखिलता[9] जानता है ।।1।।

निजी हित देश का हित बन गया है।
बने हैं आज जनपद जन[3] गया है।
मनीषा[4] का अधिप स्मय[5] हुआ है।
प्रशासन-सूत्र केवल भय हुआ है ।।2।।

अरे क्या मात्र यह दृगहीनता है।
नहीं ! मोहावरण की पीनता[6] है।
तनय हित प्रथम देखा राष्ट्र पीछे।
नयन वे निभृत[7] भी धृतराष्ट्र मींचे ।।3।।

महत्वैषा[8] बनीं अब शासिका है।
नयानय की हुई अभिभाषिका है।
सकल गुण स्त्रोत केवल बल हुआ है।
नृपतिनयसार[9] केवल छल हुआ है ।।4।।

समझते मातृ-भू को मूढ़ जाया[10]।
स्वयं में देखते हैं देव-छाया।
उदित[11] प्रभुता[12] स्वयं से मानते हैं।
परम बलहीन जन को जानते हैं ।।5।।

---

1. वैयक्तिकता; 2. समग्रता; 3. मनुष्य; 4. बुद्धि; 5. अभिमान; 6. सघनता, मोटापा; 7. छिपे हुए; 8. महत्वाकाँक्षा; 9. राजनीति का तत्व; 10. पत्नी; 11. प्रकटित; 12. प्रभुसत्ता ।

सकल संसृति[1] समझता भोगसाधन।
बना है लक्ष्य बस इन्द्रियाराधन।
अरे जो प्रकृति का लघु अंश भर है।
समझ निज को रहा अवतंश[2] पर है ।।6।।

सुधीजन भी हुए पूरे भ्रमित हैं।
नृपति निष्ठापर:[3] मानस दमित हैं।
सदा कुलक्षेमरक्षण व्रत बना है।
निखिलजनबिम्ब[4] सिंहासन बना है ।।7।।

नहीं कल्याणकर वह राजनिष्ठा।
विवेकी मूक हो खो दे प्रतिष्ठा।
नहीं जो अनय[5] का प्रतिबाद करते।
सुधो संज्ञा मृषा[6] हो ज्येष्ठ धरते ।।8।।

कपट छल द्यूत कैतव[7] देखता हूँ।
असूया[8] मान मद को लेखता हूँ।
नहीं अपवाद अब ये आचरण के।
प्रकट ही चिह्न संस्कृति के क्षरण के ।।9।।

नहीं पर काल में अतिशय त्वरा[9] है।
चढ़ी उन्माद की नर पर सुरा है।
नहीं डर उसे कुछ इतिहास का है।
बना शम[10] विषय अब उपहास का है ।।10।।

अहर्निश[11] है अहं नर को नचाता।
नये ढंग कुटिलता के है रचाता।
हुई प्रिय अन्य की अपकृति[12] उसे है।
सतत निजक्षरण की विस्मृति उसे है ।।11।।

---

1. प्रकृति; 2. शिरो भूषण; 3. सामने; 4. सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिबिम्ब; 5. अन्याय, अनीति; 6. व्यर्थ; 7. छल; 8. गुणों में भी दोष देखना; 9. शीघ्रता; 10. शान्ति; 11. रात दिन; 12. हानि।

जहाँ पर मनुजता आकार धरती।
रही शाश्वत प्रथम संस्कार धरती।
क्षीर का पान करके प्राण धरता।
धरा पर गोद से जिसकी उतरता ।।12।।

वही अबला अनावृत[1] हो रही है।
उसी नर से निरादृत[2] हो रही है।
पड़ा है देखना यह भरत-भू को।
परमपावन सतत वीरप्रसू[3] को ।।13।।

भला यह क्षम्य कैसे पाप होगा।
विफल कैसे सती का शाप होगा।
नहीं सीमित कुकर्मी तक रहेगा।
तपन हर मौन दर्शक भी सहेगा ।।14।।

(राधिका छन्द)

मैं रहा शान्ति का बना पक्षधर अब तक।
सारल्य[4] सहेगा किन्तु कुटिलता कब तक।
जब जब सहिष्णुता कायरता कहलाती।
अन्यायी की अनुदिवस[5] माँग बढ़ जाती ।।15।।

तब झुकने से अन्याय और बढ़ता है।
अत्याचारी के शिर पर मद चढ़ता है।
वह विनयशीलता को कहकर दुर्बलता।
नित क्षमावान को और दिखाता खलता[6] ।।16।।

बस शान्ति हेतु मथुरा[7] सी नगरी छोड़ी।
द्वारका धाम जा बसा जयेच्छा छोड़ी।
रणछोड़ भले हो इससे मैं कहलाया।
रण की ज्वाला से जन को किन्तु बचाया ।।17।।

---

1. विवस्त्र; 2. अपमानित; 3. वीरों को जन्म देने वाली; 4. सरलता; 5. दिनों दिन; 6. शठता; 7. जरासंघ (मगध नरेश) के द्वारा बार बार मथुरा पर किए जाने वाले आक्रमणों से प्रजा की रक्षा के लिए।

संस्कृति होती है क्षीण शान्ति के क्षय से।
मैं रोक रहा था युद्ध मात्र इस भय से।
निर्माण क्रमिक है दीर्घ काल प्रक्रिया है।
है ध्वंस क्षणिक उन्मादी एक क्रिया है ।।18।।

फिर लगता है बहुकाल पुनः सर्जन में।
संस्कृतियों को फिर उज्ज्वलता अर्जन में।
है पतन गर्त में गिरना घटना क्षण की।
पर दुष्कर बहुत क्रिया है आरोहण[1] की ।।19।।

पर जब समाज का भेष[2] विवर्धित होता।
जब लोग लगाते अघ[3] कर्दम[4] में गोता।
जब औषधियाँ सारी निष्फल हो जातीं।
तब शल्यक्रिया अनिवार्य सिद्ध हो जाती ।।20।।

मानवता को पर त्याग बहुत करना है।
नरवीरों का बलिदान बहुत करना है।
खोने होंगे धर्मज्ञ और व्रत—धारी।
काटने पड़ेंगे पाश मोह के भारी ।।21।।

यदि रही सहमती मानवता पीड़ा से।
तो मुक्ति कहाँ फिर इस सन्तत व्रीड़ा से।
नवसृष्टि पूर्व पीड़ा यह सहनी होगी।
रुधिराश्रुपूर्ण धारा तो बहनी होगी ।।22।।

कालिख धोने में यही धार सक्षम है।
इस समय वेद वेदज्ञ सभी अक्षम हैं।
उपदेश मत्तमानस में नहीं उतरता।
जल ज्यों तपते लोहे पर नहीं ठहरता ।।23।।

---

1. ऊपर चढ़ना, उन्नति करना; 2. रोग; 3. पाप; 4. कीचड़।

इस धर्म मार्ग की बाधा बन जो आए।
वह परमपूज्य भी शत्रु यहाँ कहलाए।
अब रीति नीति की व्याख्या नव देनी है।
कर में अब डोर महारण की लेनी है ।।24।।

आरम्भ समर है सत का आज असत से।
पर बने खड़े प्रतिपक्षी सत्यव्रत[1] से।
करती है किस विधि नियति[2] विडम्बित[3] नर को।
धर्मज्ञ धारते धर्म विमुख हो शर को ।।25।।

बीते दश दिन वे किन्तु बड़े थे भारी।
पाण्डव अनीकिनी[4] बहुत गयी थी मारी।
देखी जो दशा व्यग्र हो प्रण निज भूला।
रथचक्र गहा पर अर्जुन पग में झूला ।।26।।

ऐसा पराक्रमी भू पर और न कोई।
पर नहीं पाण्डवों के हित चिन्ता कोई।
निज वंश वाटिका पुष्प न वे तोड़ेंगे।
वे करें पराजित प्राण किन्तु छोड़ेंगे ।।27।।

पर आज गिरे हैं भीष्म दशा बदली है।
मेरे मन पर छायी चिन्ता बदली है।
गुरुद्रोण बने अब से अरिदल के नायक।
है कौन सहे जो उनके तीखे सायक ।।28।।

जो जामदग्नि[5] के शिष्य रहे अधिकारी।
वे भारद्वाज[6] सकल दल पर हैं भारी।
पर है संभव वे कुछ मृदुता ही धारें।
अपने प्रिय शिष्यों को न समर में मारें ।।29।।

1. भीष्म; 2. भाग्य; 3. छलती है; 4. सेना; 5. परशुराम, जो जमदग्नि ऋषि के पुत्र हैं; 6. आचार्य द्रोण जो भरद्वाज ऋषि से उत्पन्न है।

पर इससे बड़ा विषय है दुश्चिन्ता का।
आगमन युद्ध में हुआ वीरहन्ता का।
जो रहा अभी तक दूर उदित है रण में।
वह तेजपुञ्ज ग्रस लेगा सबको क्षण में ।।30।।

है ज्ञात मुझे जो वचन दिया माता को।
वह कर्ण हनेगा नहीं किसी भ्राता को।
पर अर्जुन-वध है उसका लक्ष्य पुरातन।
यह द्वन्द्व प्रतीक्षित उसको रहा सनातन ।।31।।

सामने नहीं अर्जुन को अब लाना है।
उसकी रक्षा हित कौशल दिखलाना है।
दे दान इन्द्र को कवच और कुण्डल का।
अब भी वरिष्ठ वह योद्धा भूमण्डल का ।।32।।

ग्यारहवें दिन था किया भीम को आगे।
सुनकर जिसकी हुँकार काल भी भागे।
वह चला समर में बली बकासुरघाती।
जिसके भञ्जन को देख जरा[1] दुख पाती ।।33।।

वह पवन सदृश भिड़ गया कर्ण से जाकर।
पर थमा एक क्षण बाण तीक्ष्ण कुछ खाकर।
फिर हो क्रोधान्ध कर्ण पर ऐसा टूटा।
हो गया विरथ[2] स्यन्दन[3] था उसका टूटा ।।34।।

खण्डित अनेकधा किया विजय[4] के गुण[5] को।
हो गया क्रुद्ध तब कर्ण बली कुछ क्षण को।
वेधा फिर भीमशरीर तीक्ष्ण बाणों से।
पर किया नहीं खिलवाड़ अनुजप्राणों से ।।35।।

---

1. जरा नामक राक्षसी ने दो खंडों में उत्पन्न हुए जरासंघ को जोड़कर जीवित कर दिया था, भीम ने जरासंघ को चीरकर मार डाला; 2. रथहीन; 3. रथ; 4. कर्ण के धनुष का नाम; 5. डोरी, प्रत्यञ्चा।

गिर पड़ा भीम रथ से निश्चेतन होकर।
उठने जब लगा बची सब शक्ति सँजोकर।
आया राधेय समीप क्रोध कर बोला।
सुनकर वह वज्रकठोरवचन मन डोला ।।36।।

रे भोजन-भट्ट[1] कर्ण से लड़ने आया।
पशुबल ने यदि तुझको इतना भरमाया।
हाँकूँ तुझको पशुवत प्रतोद[2] ले कर में।
जा खा जाकर मिष्ठान्न रसोई घर में ।।37।।

यों प्राणदान पाकर अनुपम दानी से।
लौटे बल के आगार हुए पानी से।
फल चखा पराजय का पहला जीवन में।
पर कर्ण कर गया निष्ठा सिद्ध वचन में ।।38।।

था रचा शंखवत व्यूह आज गुरुवर ने।
भीषणतम युद्ध विलोका प्रथम प्रहर ने।
दृढ़सेन युगन्धर पुरुजित गुरु ने मारे।
ध्वजकेतु शंख मणिमान गए संहारे ।।39।।

फिर चेकितान भी गिरा तेज निज खोकर।
बह चला रक्त फिर वीरकेतुवपु धोकर।
जिसने होकर अतिदृप्त सख्य[3] बिसराया।
उस बली द्रुपद को गुरु ने आज गिराया ।।40।।

यह देख दशा पाण्डव दल भीत हुआ था।
वीरों का रुधिर एक पल शीत हुआ था।
हैं रूद्र स्वयं या द्रोण हेति[4]—विज्ञानी।
करने आया या काल आज मनमानी ।।41।।

---

1. पेटू; 2. चाबुक; 3. मित्रता; 4. आयुध, अस्त्र।

थीं श्वेत जटाएँ या किरणें ही रवि की।
थीं पुष्ट भुजाएँ मानों निर्मित पवि[1] की।
उस ब्रह्म तेज से लज्जित होते नाकी[2]।
संहार हेतु मानो आ गए पिनाकी[3] ॥42॥

रक्तिमता वीरों के वपु में सरसाए।
यह सत्व आज रज को कैसे बरसाए।
है देखा पहले कभी सत्व को जनता।
रिपुदल—मानस-नैराश्य रूप तम-घनता ॥43॥

पर अर्जुन क्षत्रिय धर्म निभाता रण में।
करता था पीड़ित अरिदल को क्षण-क्षण में।
दीर्घायु वष्ट सौश्रुति रथियों को भेदा।
फिर उग्रमन्यु को भी यमगृह को खेदा ॥44॥

पंचानन[4] सा फिरता संग्राम विपिन[5] में।
खोजता पार्थ को कुपित अत्यधिक मन में।
वह कर्ण बली केवल यमजों[6] को पाकर।
लीला से मानो क्षण में उन्हें हराकर ॥45॥

पूछता कहाँ मम सुत को डसने वाला।
कहकर मुझको सूत सूत विहँसने वाला।
मैं आज दिखा दूँ कितना कौन प्रतापी।
दूँ जला पंख बस गिरे भूमि सम्पाती[7] ॥46॥

लज्जित हो वे हटते नतशिर सम्मुख से।
भय से न निकलता शब्द एक भी मुख से।
देखा उनको दयनीय भाव मृदु जागे।
बढ़ गया उन्हें तब छोड़ वीर वर आगे ॥47॥

---

1. वज्र; 2. देवता (नाक = स्वर्ग); 3. शिवजी; 4. सिंह; 5. वन; 6. नकुल सहदेव (जुड़वाँ भाई); 7. एक विशाल गिद्ध जटायु का भाई, सूर्य के पास तक उड़ जाने से उसके पंख जल गए।

जब प्रतिहिंसा तम मानस पर छाता है।
नर के सारे सद्‌गुण वह खा जाता है।
मूल्यों को विस्मारित[1] करता है क्षण में।
जब द्वेषाशी[2] छाता वपु के प्रतिकण में ॥48॥

वह चक्रव्यूह दुश्चक्र इन्हीं भावों का।
वह कारण मानवतातनु[3] के घावों का।
कैशोर्य जहाँ ऋजुता उत्साह समर्पित।
मरते मूल्यों के द्वारा हुआ विमर्दित ॥49॥

(गीतिका छन्द)

आज ले ली बलि मनुजता की विकृति के मन्यु[4] ने।
किन्तु युवकों को दिखायी है दिशा अभिमन्यु ने।
दिखायी सकरुण जनक की मूर्ति अर्जुन मन्यु[5] ने।
प्रण कराया घोर फिर उनके विवर्धित मन्यु[6] ने ॥50॥

भूल सकता मैं नहीं मृत पुत्र के अपमान को।
देख पाएगा नहीं वह तरणि[7] के अवसान को।
छिन्न यदि पापी जयद्रथ का न शिर मैंने किया।
हृदय जलता है जलेगी देह भी यह प्रण किया ॥51॥

लड़ा सारे दिवस पर[8] को नहीं पर वह पा सका।
काल के रथचक्र को क्या कभी रोका जा सका।
अचानक छिप गए दिनमणि[9] सर्वत:[10] तम छा गया।
दूसरा प्रण पूर्ण करने का समय अब आ गया ॥52॥

---

1. भुला देता है; 2. द्वेष रूपी सर्प विष; 3. शरीर; 4. यज्ञ; 5. दैन्य; 6. क्रोध; 7. सूर्य; 8. शत्रु; 9. सूर्य; 10. चारों ओर

जा रहा हूँ बन्धुओं को सखा तुम पर छोड़कर।
अम्ब से कहना चला रण से नहीं मुख मोड़कर।
पालना है प्रण न लज्जित करूँ उनके क्षीर को।
वीर जननी हैं बहाएँ वे न लोचन—नीर को ।।53।।

हूँ बड़ा लज्जित सखे द्रुपदात्मजा से जा कहो।
असज्जितकेशी[1] प्रिया कर दे क्षमा मुझको अहो।
नहीं रक्षा कर सका मैं हन्त ! उसके मान की।
है महारथभर्तृका[2] विनिवृत्ति[3] हो इस भान की ।।54।।

सुभद्रा को क्या कहूँ सुत शोक में जो है पगी।
गयी कैसे वह अबोधा छली इस जन से ठगी।
दे सका क्या वस्तु कोई अश्रु के अतिरिक्त मैं।
कर चला जीवन समूचा प्रिया का अतिरिक्त मैं ।।55।।

बन्धु की इस दशा का कारण स्वयं को मानकर।
बिछुड़ने ही जा रहा है बन्धु यह अनुमान कर।
भीम धीरज छोड़कर रोने लगे धर्मज्ञ भी।
देख यमजों को करुण होते व्यथित थे प्रज्ञ[4] भी ।।56।।

हो गए वे घेरकर फिर चिता को ऐसे खड़े।
वज्रपात विदग्ध तरुवर स्थाणु[5] से भूतल गड़े।
अस्त होता लगा पाण्डव भाग्य रवि के साथ ही।
भग्नप्रण[6] पावक चढ़ा अर्जुन शरासन साथ ही ।।57।।

अशिव ही सब मानते हैं ग्रहण को इस लोक में।
डुबाया था पाण्डवों को भी प्रथमतः शोक में।
किन्तु आज शिवत्व उसका था धनञ्जय के लिए।
सिंहिकासुत[7] धन्य तुम जो दिवसभर्ता[8] ग्रस लिए ।।58।।

---

1. बिना बँधे हुए केशों वाली; 2. जिसका पति महारथी हो; 3. निवारण; 4. ज्ञानी; 5. ठूँठ; 6. जिसका प्रण अपूर्ण रह गया; 7. राहु इसकी माता का नाम सिंहिका था; 8. सूर्य।

देखने यह दृश्य प्रमुदित आ गए कुरुजन सभी।
मुक्त होकर ग्रहण मे नभ भेद रवि चमके तभी।
देखने चढ़ता चिता पर पार्थ को छिपकर खड़ा।
देख रवि छिपने लगा वह जयद्रथ कायर बड़ा ॥59॥

कहा मैंने पूर्ण अपनी प्रतिज्ञा अर्जुन करो।
आशु[1] एक निशात[2] शर से छिन्नशिर दुर्जन करो।
और क्षण में एक सायक[3] मुण्ड लेकर उड़ चला।
देखते विस्मित रहे सब नहीं कुछ भी वश चला ॥60॥

दुश्शला[4] से क्या कहूँगा था सुयोधन रो रहा।
भगिनिभर्ता शोक में था धैर्य अपना खो रहा।
नहीं अपनी प्रिय बहिन को छिन्न शिर भी दे सका।
खो दिए इतने कुटुम्बी नहीं कुछ भी ले सका ॥61॥

स्तब्ध कुरुपक्षी गए भर पुनः परम अमर्ष[5] से।
जूझती अब थक चुकी थी नीति भी अपकर्ष[6] से।
युद्धनीति विरुद्ध तब वह निशारण भी छिड़ गया।
और फिर हर वीर अपने शत्रु से था भिड़ गया ॥62॥

कर्ण गुरु गुरुतनय[7] तीनों रात्रि रण में दक्ष[8] हैं।
और कौरव वाहिनी में भट अभी दश लक्ष हैं।
इस समय बस एक योद्धा साध सकता कार्य है।
अन्यथा इस रात्रिरण में पराजय अनिवार्य है ॥63॥

सोचकर यह बुला भेजा हिडिम्बा का सुतबली।
पाण्डवों की सैन्य गुरु के प्रतापानल में जली।
जा रही है वत्स अपना दिखाओ पुरुषत्व तुम।
धर्म के हित भी लड़ा है बता दो असुरत्व तुम ॥64॥

---

1. शीघ्र; 2. तीक्ष्ण; 3. बाण; 4. दुर्योधन की एक मात्र बहिन जिसका विवाह सिन्धु नरेश जयद्रथ से हुआ था; 5. क्रोध; 6. अवनति, क्षय; 7. अश्वत्थामा; 8. कुशल।

रात्रि रण में परम सक्षम वीर मायावान हो।
एक तेरे पराक्रम से भीति[1] का अवसान[2] हो।
पाण्डवों का कुल न भूलेगा कभी उपकार को।
कहो कैसे कर सकेगा व्यक्त वह आभार को ।।65।।

देव यह आदेश दे कृतकृत्य[3] मुझको कर रहे।
धन्य यह जन आज जो विश्वास इतना धर रहे।
युद्ध यह मेरा भला क्या बात है उपकार की।
परीक्षा की आज वे ला उपस्थित मम सार[4] की ।।66।।

असुरको भी निजसहायकमान सकता मनुजभी।
प्रेमयुक्त प्रतीति[5] पा सकता मनुज से दनुज[6] भी।
मोद है मुझको पिता के काम कुछ तो आ रहा।
आज कौशल दिखाने का श्रेष्ठ अवसर पा रहा ।।67।।

हो गया प्रस्थित नमन कर परम हर्षित समर को।
घोर अपने हास से भयभीत करता अमर को।
मेघवत गर्जन किया फिर छा गया आकाश में।
कुरु सुभट समझे स्वयं को काल के आवास[7] में ।।68।।

रात फिर ढलने लगी पर युद्ध भीषणतर हुआ।
रोकना है डिम्ब[8] का सबके लिए दुष्कर हुआ।
देखकर उसका पराक्रम थे चकित योद्धा सभी।
बन्द होगा पाण्डवों के पक्ष में यह रण अभी ।।69।।

व्योम में उड़ता कभी वह लुप्त होता था कभी।
प्राप्त बस विफलत्व को थे देह पर प्रहरण[9] सभी।
देह भूधरवत विशालाकार जनती भीति थी।
दैत्य को संहार में ही जान पड़ती प्रीति थी ।।70।।

---

1. भय; 2. समापन; 3. कृतार्थ; 4. बल; 5. विश्वास; 6. राक्षस; 7. घर;
8. घटोत्कच; 9. अस्त्र-शस्त्र।

फैलती ज्वाला कभी ज्यों लीलने ही सृष्टि को।
घोर उपहृति[1] की जननि बनती शिलामयवृष्टि को।
रोक सकता कौन है अब प्रलयझंझावात को।
कौन सह सकता प्रबलतम क्रूर इस आघात को ।।71।।

था बधिर करता सभी को घोर निज हुँकार से।
था भयातुर कर रहा वह मात्र निज आकार से।
समर भू पर रक्तलोचन[2] स्वैर[3] विचरण कर रहा।
भीति का ही भाव बस पर के हृदय में भर रहा ।।72।।

डर गये गज हुए विह्वल फिर निरङ्कुश हो गए।
पद तले उनके हजारों वीर मर्दित हो गए।
दौड़ते चिंघाड़ते धरणी कँपाने वे लगे।
दैत्य के संहार आयुध सैन्य को लगने लगे ।।73।।

काल क्या पीछे फिरा क्या आ गया त्रेता यहाँ।
किन्तु पाएँ आज हम सब राम सा जेता कहाँ।
रावणानुज[4] ही पुनः क्या आ गया कुरुक्षेत्र में।
या कि लाली बढ़ गयी यमराज के युग नेत्र में ।।74।।

तीसरा दृग खोलने से पूर्व ही शिव ने इसे।
बनाकर संहार का ज्यों अस्त्र भेजा है इसे।
कर रहा निष्प्राण सृज इस विकट मायाजाल को।
रच महानरमेध मानो प्रीत करता काल को ।।75।।

पवन पावक दृषद[5] ही जिसके भयानक अस्त्र हैं।
शस्त्रसज्जित वीर इसके सामने निःशस्त्र हैं।
पंच तत्व शरीर से वह प्राण हरता मूल से।
मानवों के आज अपने त्रिविध तत्व त्रिशूल से ।।76।।

---

1. चोट; 2. लाल आँखों वाला; 3. इच्छानुसार; 4. कुम्भकर्ण 5 शिलाएँ, पत्थर।

व्यूह अस्तव्यस्त अति ही त्रस्त सारा सैन्य था।
नष्ट कर उत्साह वर्धित हो रहा बस दैन्य था।
देखकर दल की दशा यह सुयोधन आगे बढ़ा।
भीमसुत को रोकने वह धनुष पर शर को चढ़ा ।।77।।

विविध मेरे शस्त्र पाते दैत्य पर विफलत्व को।
प्राप्तकर आया धरा पर क्या असुर अमरत्वको।
वज्र सा आघात पा उसका सुयोधन था गिरा।
भीत हो पीछे हटा वह शीघ्र निजरथ को फिरा ।।78।।

आर्तस्वर में कर्ण से वह बोलने तब यह लगा।
क्यों नहीं अब तक तुम्हारा भाव करुणा का जगा।
रुधिर क्लिन्न[1] शरीर मेरा देख लो यह ध्यान से।
दूर क्यों होता तुम्हारा हठ न विपदा ज्ञान से ।।79।।

चला दो दिव्यास्त्र को तुम यह महासंकट हरो।
प्राण संकट में सभी के देर अब कुछ मत करो।
परिस्थिति ऐसी विकट हर वीर जब निरुपायहै।
बस तुम्हारे हाथ में ही एक मात्र उपाय है ।।80।।

अस्त्र वह मैंने रखा है मात्र अर्जुन के लिए।
है नहीं मायावियों पर यह विसर्जन[2] के लिए।
और उस पर भी करूँ इसका तभी उपयोग में।
जब विफल होता लगूँगा अन्ततः उद्योग में ।।81।।

क्या पराजय का मुझे मुख अब पड़ेगा देखना।
नहीं संभव दीनता है वाहिनी की देखना।
देख सकता हा न लुटते वीरता की लाज मैं।
यदि हुआ ऐसा बनूँगा आत्महन्ता आज मैं ।।82।।

---

1. भीगा हुआ; 2. छोड़ना।

कर्ण ने तब इन्द्रदत्ता शक्ति वह आहूत[1] की।
ध्यान करके पाणि[2] पर निज दिव्य द्युति उद्भूत की।
छोड़ दी नभ में जहाँ था सुत हिडिम्बा का बली।
लपलपाती जीभ मानो मृत्यु ही थी बढ़ चली॥83॥

दामिनी[3] सी दमकी तत्क्षण लपककर उर में धँसी।
प्राण शोषण की तृषा[4] जैसे युगों से थी बसी।
रव हुआ अति घोर मानो पास ही विद्युतगिरी।
भर गयी सबके उरों में भीति हो फिर तो निरी॥84॥

व्योम था गूँजा असुर के भयानक चीत्कार से।
गिरा आकर मेदिनी[5] भी हिल गई थी भार से।
हो गया गद्गद् सुयोधन मुक्ति पाकर हार से।
हो नहीं सकता उरिण हे मित्र इस उपकार से॥85॥

किन्तु था राधेय धारे विषम सी गम्भीरता।
शेष मेरे पास है अब मात्र मेरी वीरता।
बीच में जयघोष के वह सोचने फिर यह लगा।
बच गए तुम पार्थ केशव ने हमें कैसा ठगा॥86॥

□□

1. बुलाई; 2. हाथ; 3. विद्युत; 4. प्यास; 5. पृथ्वी।